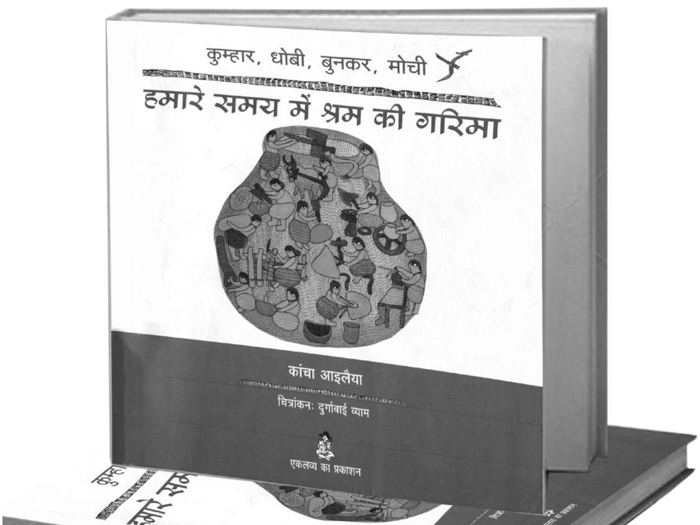
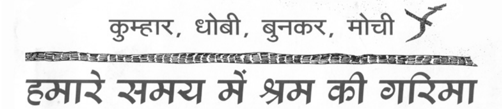
हमारे समय में श्रम की गरिमा

शाह आलम

इस किताब में कांचा आइलैया ने आदिवासियों, चर्मकारों, कुम्हारों, मूर्तिकारों, किसानों, बुनकरों, धोबियों और नाइयों के विज्ञान, कला व हुनर पर प्रकाश डाला है। किताब मानव जीवन को बेहतर बनाने में ऐसी जातियों और समुदायों के योगदान को दर्ज करती है जिन्हें 'निम्न' और 'पिछड़े' मानकर तिरस्कृत किया जाता है।

दुर्गाबाई व्याम के अनूठे चित्रों से सजी यह किताब भारतीय बच्चों के बीच मानव श्रम की गरिमा को पुनः प्रतिष्ठित करने की कोशिश है। –सं.





लेखक : कांचा आइलैया

प्रकाशक : एकलव्य फ़ाउण्डेशन

जब मैं *हमारे समय में श्रम की गरिमा* पढ़ रहा था तो मन में बार-बार प्रश्न आ रहा था कि श्रम क्यों किया जाए? मशीन है न! विज्ञान ने वे सारे आविष्कार किए हैं, जिनसे एक मनुष्य सुखी और आरामदायक जीवन जी सके। लेकिन किताब पढ़ने के बाद समझ आया कि हम जिस विज्ञान की बात करते हैं, उसके पीछे भी श्रमिकों की एक लम्बी क़तार है। कांचा आइलैया, आदिवासी, पशुपालक, मोची, कुम्हार, बुनकर, धोबी, आदि समुदायों के साथ जुड़े श्रम के गौरवपूर्ण अध्यायों की व्याख्या करते हैं। आदिवासी समुदाय पर लिखते हुए वे जो पहली बात पाठक के समक्ष रखते हैं, वह यह कि आख़िर कब, कैसे और किसने तय किया होगा कि आम एक रसीला, स्वादिष्ट और स्वास्थ्यवर्धक फल है, जबकि रतनजोत के फल खाने से मृत्यु

तक हो सकती है? इस ज्ञान को देने वाले आदिवासियों को हमारा तकनीकी-सम्पन्न समाज जंगली समझकर दुत्कारता है। उन्हें दूसरे दर्जे का मनुष्य मानता है क्योंकि वे परिश्रम कर जीवन चलाते हैं। समाज यह मानने को तैयार ही नहीं है कि वे हमारे पहले शिक्षक हैं जिन्होंने कन्दमूल, फलों, सब्ज़ियों, और माँसों की पहचान की, जिन्हें आज हम बड़े चाव से खाते हैं। लेखक लिखते हैं, “मानव जाति के जीवित रह पाने का प्रमुख कारण है कि हमने शताब्दियों से सही प्रकार के खाद्य पदार्थों का चयन किया और खाए हैं। आज हम जो कन्दमूल खाते हैं उन्हें ज़मीन से खोदना पड़ता है, जो फल खाते हैं उन्हें पेड़ों से तोड़ना पड़ता है, जो माँस खाते हैं वह पशु-पक्षियों से मिलता है। यदि आदिवासी समाज ने यह कठिन काम न किया होता, तो मनुष्य जाति शायद आज जीवित ही न होती।”



कृषि के विकास से पहले हमारी अर्थव्यवस्था पालतू बनाए गए पशुओं, मसलन, गाय, बैल, भैंस, भेड़, बकरियों, आदि पर निर्भर थी। पशु हमारे भोजन के मुख्य साधन थे और इनकी देखभाल करने वाले लोगों को पशुपालक कहा गया। इन्हें हम चरवाहे भी कहते हैं। इस समुदाय ने हमारे आदिम समाज को काफ़ी कुछ दिया है। मानव संस्कृति केवल मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों से ही नहीं बनती, उसके निर्माण में जानवर भी योगदान देते हैं। पशुपालक समाज अपने पशुओं का उसी तरह ध्यान से रखते हैं जैसे माता-पिता अपनी सन्तान का। लेकिन समाज में जाति व्यवस्था की स्थापना के बाद पशुपालन को तुच्छ और गन्दा पेशा माना जाने लगा।

मोची, चमड़े के कारोबार से जुड़े और सफ़ाई के अग्रदूत होते हैं। लेखक प्राचीन भारत और रोम में इस समुदाय के लोगों के लिए बनाए नियमों की बात करते हैं। जहाँ भारत में यह प्रावधान था कि अछूत गाँव के बाहर रहें, फेंके हुए कटोरे का प्रयोग करें, टूटे बर्तनों में भोजन करें, और पशुओं में कुत्ते और बन्दर इनकी सम्पत्ति हों, वहीं रोम में सम्राट डायोक्लेशियन द्वारा जारी किए गए फरमान (303 ई.) के ज़रिए कई प्रकार के सामानों और सेवाओं के उच्चतम मूल्य तय किए गए, जिनमें बकरी, भेड़, मेमने, लकड़बग्घे, हिरण, जंगली भेड़, भेड़िए, चितराल, ऊदबिलाव, भालू, सियार, सील मछली, तेन्दुए और शेर की खालें और उनसे बना चमड़ा शामिल थे। भारत में, जानवरों के चमड़े निकालने, चमड़े का काम करने, और गन्दगी साफ़ करने की वजह से मोची समुदाय को शारीरिक और मानसिक तौर पर बड़ी क़ीमत चुकानी पड़ी। कितनी बड़ी विडम्बना है कि जानवरों के चमड़े हटाने वाला अछूत है, लेकिन चमड़े से बना बस्ता सबको पसन्द है! गन्दगी हटाने वाला अछूत है, लेकिन साफ़ किए गए स्थान पर रहना सबको पसन्द है!

आज भी लोग सेप्टिक टैंक साफ़ करते हुए मर जाते हैं, पर व्यवस्था और समाज ऐसी घटनाओं पर चुप्पी साध लेता है, क्योंकि हमें इन समुदायों के श्रम की क़द्र ही नहीं है। एक समाज के रूप में शायद हम भी चाहते हैं कि ये ऐसे ही

मरते रहें और इन्हें शिक्षा से वंचित रखा जाए, ताकि इनके बच्चे भी इसी तरह काम करते रहें। अगर ये लोग पढ़ लेंगे तो नालों और सेप्टिक टैंकों को कौन साफ़ करेगा! एक जीवित और संवेदनशील समाज ऐसा नहीं सोचता।

अन्न देने वाले किसान की वर्गीय सामाजिक स्थिति, अन्नदाता की तो बिलकुल नहीं है। सब्ज़ी उगाने वाले और गली में सब्ज़ी बेचने वाले समुदाय, दोनों को अपने श्रम का मूल्य मिले न मिले, सब्ज़ियों व अन्न को गोदाम में जमा करने वाले पूँजीपतियों को हम पूरा आदर और धन देते हैं। वेदों में इस समाज को शूद्र कहा गया, समाज में निम्न कोटि का दर्जा दिया गया



और तथाकथित पण्डित खेती को गँवार लोगों द्वारा किया जाने वाला बुरा काम मानते थे। यह किताब ऐसी विडम्बनाओं को बार-बार कुरेदती है और यह सोचने पर मजबूर करती है कि आख़िर किसान आत्महत्या क्यों करते हैं?

इस पुस्तक में कुम्हारों के बारे में भी चर्चा की गई है। ये वही कुम्हार हैं जिन्होंने मृत पड़ी मिट्टी को सजीव बनाकर इतिहास में एक नए अध्याय की शुरुआत की। क्या आपने कभी मिट्टी के बर्तन बनते हुए देखा है? अगर नहीं देखा है तो ज़रूर देखिएगा और समझने की कोशिश कीजिएगा कि एक मिट्टी का बर्तन बनाते समय कितना श्रम लगता है! समाज ने कीचड़, मृदा और चिकनी मिट्टी का काम करने वाले अधिकांश समुदायों को एक जाति के साँचे में रखकर जाति व्यवस्था में नीचा स्थान दिया है। उनके विज्ञान, कौशल और कला को पूरी तरह नज़रअन्दाज़ कर दिया गया। लेकिन हम लोग जिस थाली में खाना खाते हैं, उसे कला से भरपूर इन्हीं कुम्हारों ने जन्म दिया था।

इसी तरह, समाज ने कभी बुनकरों की क़द्र नहीं की, जिन्होंने चरखे और करघे का आविष्कार किया। यह महात्मा गाँधी के स्वदेशी आन्दोलन का एक मुख्य घटक था। कारीगरी से जुड़े इस समुदाय को भी जाति व्यवस्था में शूद्र माना गया। आज इनकी गिनती पिछड़ी जातियों में होती है। विज्ञान के क्षेत्र में इनका योगदान अतुलनीय है, जिसे भुला दिया गया। इसका उदाहरण देते हुए लेखक कहते हैं कि कपड़ा बनाने के लिए घूमने वाले चक्के पर आधारित जो तरीक़ा ईजाद किया गया, वही उन टरबाइनों को चलाने की तकनीक का आधार बना जो बाँधों से लेकर परमाणु संयंत्र तक में उपयोग की जाती हैं।

आइलैया ने इस छोटी, किन्तु महत्त्वपूर्ण, अत्यन्त रोचक और पठनीय, पुस्तक में इतिहास, विज्ञान और सामाजिक विज्ञान के अनेक प्रसंगों को समाहित कर उपयोगी बनाया है। मसलन, धोबियों पर लिखे अध्याय में वे बताते हैं कि पुरानी पेशाब पहला डिटर्जेंट था! प्राचीन रोम में कपड़े के टुकड़े पहले पुरानी पेशाब या अन्य क्षारीय घोल में भिगोए जाते थे। जो लोग अज्ञानतावश धोबियों की निन्दा करते हैं, उन्हें धुलाई के विज्ञान और रासायनिक साबुन की खोज करने वाले समुदाय से सीख लेने की कोशिश करनी चाहिए कि कैसे इस समुदाय में लैंगिक समानता आज भी बनी हुई है। जहाँ अधिकांश परिवारों में केवल महिलाएँ कपड़े धोती हैं और अन्य गतिविधियों का भार उठाती हैं, वहीं धोबी समाज में महिला और पुरुष, दोनों कपड़ों की धुलाई करते हैं। वे अपनी स्त्रियों के साथ



मिलकर कपड़े धोते हैं। कोई भी अच्छा समाज महिला-पुरुष या लड़के-लड़की के बीच श्रम को लेकर भेदभाव नहीं करता।

आइलैया बताते हैं, आधुनिक युग के पहले नाइयों के अलावा किसी भी अन्य जाति के लोग बीमारियों से पीड़ित लोगों को नहीं छूते थे। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अस्तित्व में आने तक नाई ही कई छोटी-मोटी शल्यक्रियाएँ करते थे। उस्तरा चलाने में अपनी विशेषज्ञता के कारण वे रणभूमि में सैनिकों को लगी चोटों का उपचार करते थे। वास्तव में, शल्यचिकित्सा और बाल काटने के व्यवसाय में सहज सम्बन्ध है। शरीर के उस हिस्से पर जहाँ शल्यचिकित्सा होनी होती है, बालों की उपस्थिति के कारण संक्रमण हो सकता है। इसलिए शल्यक्रिया से पहले बालों को पूरी तरह साफ़ करना अनिवार्य होता है। यह चलन आज भी जारी है। अतः नाई, भारतीय समाज के सबसे पहले चिकित्सक कहे जा सकते हैं। तमिलनाडु में आज भी नाई को 'मरुत्तुवर' कहा जाता है, जिसका अर्थ होता है : 'चिकित्सक'। और हाँ, ज़रा इसी प्रसंग में नाई समुदाय की स्त्रियों, दाइयों की भूमिका पर विचार करें। वे न होतीं, तो गाँवों में प्रसव कौन करवाता? आज भी आधुनिक चिकित्सा के इस बड़े अभाव को पूरा करने का दायित्व कौन उठा रहा है? हम जानते हैं कि इस समुदाय की सामाजिक हैसियत डॉक्टर या नर्स वाली तो बिलकुल ही नहीं है, न ही समाज कभी इसे स्वीकारेगा।

जाति और श्रम



जब इस किताब का गहनता से अध्ययन करेंगे तो पाएँगे कि कैसे जाति व्यवस्था ने इन समुदायों को समय-दर-समय नीच, अछूत, शूद्र और चाण्डाल कहकर शिक्षा जैसी बुनियादी चीज़ों से महरूम किया है। मनु और कौटिल्य जैसे लेखकों ने ऐसे विशेषज्ञ समूहों को जातियों में विभाजित कर दिया। अन्य समाजों के विपरीत, भारत के अधिकांश हिस्सों में जन्म से ही यह तय होने लगा कि कोई किस प्रकार के व्यवसाय या श्रम कर सकता है। यानी, ग़ैर-श्रमिक वर्ग ने बड़ी चालाकी से जाति को श्रम से जोड़ दिया, जिसका प्रभाव आज भी समाज में बना हुआ है। पुरोहितों, योद्धाओं, प्रशासकों और व्यापारियों जैसे ग़ैर-श्रमिक समूहों ने न तो कभी

कोई कठोर शारीरिक काम ही किया, न ही कोई भौतिक विज्ञान और तकनीकी ईजाद की। इसके बावजूद, उन्होंने श्रमिकों और तकनीकी हुनर वाली जातियों की मेहनत के फल भोगे।

"जाति व्यवस्था को बढ़ावा देने वालों ने एक दर्शन गढ़ा, जिसके अनुसार, शिक्षित बौद्धिक वर्ग का आहार उत्पादन, बर्तन बनाने, चर्मकार्य, सफ़ाई के कार्य, बढ़ईगिरी, बुनकर, इत्यादि कामों में संलग्न होना उचित नहीं था। इसी तरह की समझ ने श्रम की गरिमा को नष्ट कर दिया।"

लेखक टिप्पणी करते हैं कि ईश्वर और धर्म के नाम पर श्रम का तिरस्कार करना वे लोग सिखाते हैं जो दूसरों का शोषण करके अपना जीवन चलाते रहना चाहते हैं।

श्रम और लिंग

महिला हो या पुरुष, दोनों को जीवित रहने के लिए भोजन की आवश्यकता होती है और भोजन पाने के लिए श्रम की। लेकिन जब हम अपने आसपास या अपने घरों में देखते हैं तो ऐसा महसूस होता है कि कुछ काम लड़के एवं लड़की अथवा महिला एवं पुरुष में बाँट दिए गए हैं। जैसे– घरों में काम करती माताएँ खाना भी पकाती हैं, कपड़े भी धोती हैं, और बच्चों व बुजुर्गों की देखभाल भी करती हैं। ऐसा क्यों है? क्या खाना बनाना और कपड़े धोना सिर्फ़ महिलाओं की ज़िम्मेदारी है? क्या पुरुष खाना नहीं बना सकते या कपड़े नहीं धो सकते?

जब लड़का या लड़की पैदा होता / होती है तो उसके साथ बाल्यावस्था से ही भेदभाव शुरू हो जाता है। मसलन, लड़कियाँ रसोईघर में माँ की मदद, सब्ज़ियाँ काटना, बर्तन धोना, झाड़ू-पोछा करना जैसे वे तमाम काम करेंगी जो एक महिला पारम्परिक रूप से करती आ रही है, वहीं लड़कों को सब्ज़ी ख़रीदने, साइकिल चलाने और विभिन्न प्रकार के खेलों को खेलने की आज़ादी होती है। पोषक आहार भी लड़कियों की अपेक्षा लड़कों को ज़्यादा दिया जाता है।



लेखक लिखते हैं, "श्रम का लैंगिक विभाजन बहुत हद तक पितृसत्तात्मक है जो लड़कियों और महिलाओं को यह महसूस करने पर मजबूर करता है कि वे लड़कों और पुरुषों से कमतर हैं। इसमें पुरुषों की सोच ऐसी बन जाती है कि वे ख़ुद को श्रेष्ठ समझने लगते हैं। पुरुष और महिलाओं के बीच समानता का प्रश्न श्रम सम्बन्धी है, और ऐसा कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है कि लड़कों

द्वारा किया जाने वाला काम लड़कियाँ नहीं कर सकती हैं।"

दुर्गाबाई व्याम की अद्भुत चित्रकारी

इस किताब के सभी पहलुओं पर बात हो जाए और दुर्गाबाई द्वारा बनाए हुए नायाब चित्रों पर बात न की जाए तो यह समीक्षा पूरी नहीं हो सकती। ये प्रभावी चित्र किताब को वैचारिक गहराई और विस्तार देते हैं।

दुर्गाबाई व्याम गोण्ड शैली के चित्रों पर काम करती हैं। इनके चित्रों को देखेंगे तो पाएँगे कि इन सभी चित्रों में आदिवासी, पशुपालक, चर्मकार, किसान, कुम्हार, धोबी, बुनकर, नाई, आदि की संस्कृति, उनके काम करने के तरीक़े और उनके जीवन के रंगमंच बेहद ख़ूबसूरत अन्दाज़ से ज्यामितीय पैटर्न में चित्रित हैं।

इस लेख की पृष्ठ संख्या 2 के चित्र को देखें, इसमें दिखाया गया है कि एक मोची कितनी कलात्मकता और मेहनत से जूते बनाता है। इस चित्र में आप देख पाएँगे कि दो व्यक्ति चमड़े की कटाई-छँटाई कर रहे हैं। उसके बाद, वह कैसे धीरे-धीरे एक जूते का आकार लेता है, और इसे सिलने में लगने वाले धागे, सूआ सहित सभी बुनियादी चीज़ों को बहुत ख़ूबसूरती से दर्शाया गया है। यह शिल्प एक मोची के श्रम और सौन्दर्यबोध को दर्शा रहा है।

श्रम की गरिमा किसी समाज और धर्म का केन्द्रीय सिद्धान्त बन जाए तो कोई व्यक्ति सुबह मोची या बर्तन की साफ़-सफ़ाई का काम कर सकता है, और दोपहर में पुजारी, पुरोहित या मुल्ला का। किसी के श्रम को मान्यता न देना कितना उचित है? हमें तय करना होगा कि हमें मेहनत से काम करके आगे बढ़ता समाज चाहिए या अपने दुर्गुणों को ओढ़ता-बिछाता, नष्ट होता एक कमजोर और बीमार समाज? फ़ैसला हम सबको करना है। और कहना न होगा कि हमारे स्कूल-कॉलेजों की शिक्षा ही वह सीढ़ी है जो श्रम के प्रति सम्मान के भाव को जन्म दे सकती है। शुरुआत यहीं से होनी चाहिए।



सभी चित्र *हमारे समय में श्रम की गरिमा* पुस्तक से साभार।

शाह आलम बिहार के गोपालगंज ज़िले के रहने वाले हैं। आपकी प्रारम्भिक पढ़ाई गाँव के स्कूल में हुई है। उन्होंने अर्थशास्त्र में स्नातकोत्तर की पढ़ाई इलाहाबाद विश्वविद्यालय से की है। फ़िलहाल अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन में पिछले 6 महीने से एसोसिएट के रूप छत्तीसगढ़ के जांजगीर ज़िले के नवागढ़ ब्लॉक में कार्य कर रहे हैं।

सम्पर्क : shah.alam@azimpremjifoundation.org